महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अन्तर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)
Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya
(A Central University Established by Parliament by Act No. 3 of 1997)
नैक द्वारा 'A' ग्रेड प्राप्त / Accredited with 'A' Grade by NAAC

आधुनिककालीन हिन्दी काव्य

निर्धारित पाठ्यपुस्तक

एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम
तृतीय सेमेस्टर
प्रथम पाठ्यचर्या (अनिवार्य)
पाठ्यचर्या कोड : MAHD – 13

दूर शिक्षा निदेशालय
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट – हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा – 442001 (महाराष्ट्र)

1

आधुनिककालीन हिन्दी काव्य (निर्धारित पाठ्यपुस्तक)

प्रधान सम्पादक

प्रो॰ गिरीश्वर मिश्र
कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक

प्रो॰ कृष्ण कुमार सिंह
निदेशक, दूर शिक्षा निदेशालय एवं विभागाध्यक्ष हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग
साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास
अनुसंधान अधिकारी एवं पाठ्यक्रम संयोजक- एम. ए. हिन्दी पाठ्यक्रम
दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक मण्डल

प्रो॰ आनन्द वर्धन शर्मा
प्रतिकुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो॰ कृष्ण कुमार सिंह
निदेशक, दूर शिक्षा निदेशालय एवं विभागाध्यक्ष हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग
साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो॰ अरुण कुमार त्रिपाठी
प्रोफेसर एडजंक्ट, जनसंचार विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास

प्रकाशक

कुलसचिव, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा, महाराष्ट्र, पिन कोड : 442001

© महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रथम संस्करण : जून 2018

पाठ्यक्रम परिकल्पना, संरचना, संयोजन एवं पाठचयन
आवरण, रेखांकन, पेज डिज़ाइनिंग, कम्पोज़िंग ले-आउट एवं टंकण

पुरन्दरदास

कार्यालयीय सहयोग

श्री विनोद रमेशचंद्र वैद्य
सहायक कुलसचिव, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

टंकण कार्य सहयोग (रामनरेश त्रिपाठी, नागार्जुन, कुँवर नारायण एवं केदारनाथ सिंह की कृतियाँ)

सुश्री राधा सुरेश ठाकरे
दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

आवरण पृष्ठ पर संयुत विश्वविद्यालय के वर्धा परिसर स्थित गांधी हिल स्थल का छायाचित्र श्री राजदीपसिंह राठौर फोटोग्राफर एंड डॉक्यूमेंटेशन सहायक, जनसंपर्क विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा से साभार प्राप्त

हम उन समस्त साहित्यकारों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं जिनकी कृतियों का उपयोग प्रस्तुत पाठ्यपुस्तक में किया गया है । हम उन समस्त रचनाकारों, अनुवादकों, सम्पादकों, संकलनकर्त्ताओं, सर्वाधिकारधारकों, प्रकाशकों, मुद्रकों एवं इंटरनेट स्रोतों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं जिनकी सहायता से प्रस्तुत पाठ्यपुस्तक में संकलित रचनाओं के पाठ उपलब्ध हुए हैं।

http://hindivishwa.org/distance/contentdtl.aspx?category=3&cgid=77&csgid=65

- यह पाठ्यपुस्तक दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा संचालित एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम में प्रवेशित विद्यार्थियों के अध्ययनार्थ उपलब्ध करायी जाती है।
- इस कृति का कोई भी अंश लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।
- इस पाठ्यपुस्तक को यथासम्भव त्रुटिहीन रूप से प्रकाशित करने के सभी प्रयास किए गए हैं तथापि संयोगवश यदि इसमें कोई कमी अथवा त्रुटि रह गई हो तो उससे कारित क्षति अथवा संताप के लिए सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक का कोई दायित्व नहीं होगा।
- किसी भी परिवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र वर्धा, महाराष्ट्र ही होगा।

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	कवि	निर्धारित पाठ्य कृतियाँ	पृष्ठ क्रमांक
01.	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	देखी तुमरी कासी	05 – 06
02.	श्रीधर पाठक	देश-गीत सुन्दर भारत स्वदेश-विज्ञान	07 – 09
03.	अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	प्रियप्रवास – सप्तदश सर्ग	10 – 17
04.	मैथिलीशरण गुप्त	साकेत – नवम सर्ग (चयनित अंश)	18 – 27
05.	रामनरेश त्रिपाठी	पथिक – दूसरा सर्ग	28 – 34
06.	जयशंकर प्रसाद	कामायनी – चिन्ता, श्रद्धा एवं लज्जा सर्ग	35 – 50
07.	सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'	राम की शक्ति-पूजा	51 – 60
08.	सुमित्रानन्दन पन्त	परिवर्तन	61 – 73
09.	महादेवी वर्मा	बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ मधुर मधुर मेरे दीपक जल मैं नीर भरी दुःख की बदली	74 – 77
10.	रामधारी सिंह 'दिनकर'	मंगल-आह्वान हिमालय	78 – 83
11.	केदारनाथ अग्रवाल	गाँव का महाजन पैतृक सम्पत्ति वह चिड़िया जो	84 – 86
12.	नागार्जुन	अन्न-पचीसी पुरानी जूतियों का कोरस	87 – 98
13.	सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'	असाध्य वीणा	99 – 108
14.	गजानन माधव 'मुक्तिबोध'	अँधेरे में	109 – 146
15.	रघुवीर सहाय	आत्महत्या के विरुद्ध एक समय था अनाज के इस्तेमाल	147 – 150
16.	कुँवर नारायण	नचिकेता उपसंहार चक्रव्यूह	151 – 156
17.	केदारनाथ सिंह	पानी की प्रार्थना लुखरी चींटियों की रुलाई	157 – 163

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

देखी तुमरी कासी

देखी तुमरी कासी, लोगो, देखी तुमरी कासी।
जहाँ विराजैं विश्वनाथ विश्वेश्वरजी अनिवासी॥

आधी कासी भाट भंडेरिया बाम्हन औ संन्यासी।
आधी कासी रंडी मुंडी राँड़ खानगी खासी॥

लोग निकम्मे भंगी गंजड़ लुच्चे बे-बिसवासी।
महा आलसी झूठे शुहदे बे-फिकरे बदमासी॥

आप काम कुछ कभी करैं नहिं कोरे रहैं उपासी।
और करे तो हँसैं बनावैं उसको सत्यानासी॥

अमीर सब झूठे और निंदक करें घात विश्वासी।
सिपारसी डरपुकने सिट्टू बोलैं बात अकासी॥

मैली गली भरी कतवारन सड़ी चमारिन पासी।
नीचे नल से बदबू उबलैं मनो नरक चौरासी॥

कुत्ते भूँकत काटन दौड़ैं सड़क साँड़ सों नासी।
दौड़ैं बंदर बने मुछंदर कूदैं चढ़े अगासी॥

घाट जाओ तो गंगापुत्तर नोचैं दै गल फाँसी।
करैं घाटिया बस्तर-मोचन दे देके सब झाँसी॥

राह चलत भिखमंगे नोचैं बात करैं दाता सी।
मंदिर बीच भँड़ेरिया नोचैं करैं धरम की गाँसी॥

सौदा लेत दलाली नोचैं देकर लासालासी।
माल लिये पर दुकनदार नोचैं कपड़ा दे रासी॥

चोरी भए पर पूलिस नोचैं हाथ गले बिच ढासी।
गए कचहरी अमला नोचैं मोचि बनावैं घासी॥

फिरैं उचक्का दे दे धक्का लूटैं माल मवासी।
कैद भए की लाज तनिक नहिं बे-सरमी नंगा सी॥

साहेब के घर दौड़े जावैं चंदा देहि निकासी।
चढ़ैं बुखार नाम मंदिर का सुनतहि होंय उदासी॥

घर की जोरू लड़के भूखे बने दास औ दासी।
दाल की मंडी रंडी पूजैं मानो इनकी मासी॥

आप माल कचरैं छानैं उठि भोरहिं कागाबासी।
बाप के तिथि दिन बाम्हन आगे धरैं सड़ा औ बासी॥

करि बेवहार साक बांधैं बस पूरी दौलत दासी।
घालि रुपैया काढ़ि दिवाला माल डेकारैं ठांसी॥

काम कथा अमृत सी पीयैं समुझैं ताहि विलासी।
रामनाम मुँह से नहिं निकसै सुनतहि आवै खांसी॥

देखी तुमरी कासी भैया, देखी तुमरी कासी॥

❖❖❖

श्रीधर पाठक

(1)

देश-गीत

जय जय प्यारा, जग से न्यारा
शोभित सारा, देश हमारा,
जगत-मुकुट, जगदीश दुलारा
जग-सौभाग्य, सुदेश।
जय जय प्यारा भारत देश।

प्यारा देश, जय देशेश,
अजय अशेष, सदय विशेष,
जहाँ न संभव अघ का लेश,
संभव केवल पुण्य-प्रवेश।
जय जय प्यारा भारत-देश।

स्वर्गिक शीश-फूल पृथिवी का,
प्रेम-मूल, प्रिय लोकत्रयी का,
सुललित प्रकृति-नटी का टीका,
ज्यों निशि का राकेश।
जय जय प्यारा भारत-देश।

जय जय शुभ्र हिमाचल-शृंगा,
कल-रव-निरत कलोलिनि गंगा,
भानु-प्रताप-समत्कृत अंगा,
तेज-पुंज तप-वेश।
जय जय प्यारा भारत-देश।

जग में कोटि-कोटि जुग जीवै,
जीवन-सुलभ अमी-रस पीवै,
सुखद वितान सुकृत का सीवै,
रहै स्वतंत्र हमेश।
जय जय प्यारा भारत-देश।

* * *

(2)

सुन्दर भारत

भारत हमारा कैसा सुंदर सुहा रहा है
शुचि भाल पै हिमाचल, चरणों पै सिंधु-अंचल
उर पर विशाल-सरिता-सित-हीर-हार-चंचल
मणि-बद्ध नील-नभ का विस्तीर्ण-पट अचंचल
सारा सुदृश्य-वैभव मन को लुभा रहा है
भारत हमारा कैसा सुंदर सुहा रहा है

उपवन-सघन-वनालि, सुखमा-सदन, सुखाली
प्रावृट के सांद्र धन की शोभा निपट निराली
कमनीय-दर्शनीया कृषि-कर्म की प्रणाली
सुर-लोक की छटा को पृथिवी पे ला रहा है
भारत हमारा कैसा सुंदर सुहा रहा है

सुर-लोक यहीं पर, सुख-ओक है यहीं पर
स्वाभाविकी सुजनता गत-शोक है यहीं पर
शुचिता, स्वधर्म-जीवन, बेरोक है यहीं पर
भव-मोक्ष का यहीं पर अनुभव भी आ रहा है
भारत हमारा कैसा सुंदर सुहा रहा है

हे वंदनीय भारत, अभिनंदनीय भारत
हे न्याय-बंधु, निर्भय, निर्बंधनीय भारत
मम प्रेम-पाणि-पल्लव-अवलंबनीय भारत
मेरा ममत्व सारा तुझमें समा रहा है
भारत हमारा कैसा सुंदर सुहा रहा है

* * *

(3)

स्वदेश-विज्ञान

जब तक तुम प्रत्येक व्यक्ति निज सत्त्व-तत्त्व नहिं जानोगे
त्यों नहिं अति पावन स्वदेश-रति का महत्त्व पहचानोगे

जब तक इस प्यारे स्वदेश को अपना निज नहिं मानोगे
त्यों अपना निज जान सतत-शुश्रूषा-व्रत नहिं ठानोगे

प्रेम-सहित प्रत्येक वस्तु को जब तक नहिं अपनाओगे
समता-युत सर्वत्र देश में ममता-मति न जगाओगे

जब तक प्रिय स्वदेश को अपना इष्ट-देव न बनाओगे
उसके धूलि-कणों में आत्मा को समूल न मिलाओगे

पूत पवन जल भूमि व्योम पर प्रेम-दृष्टि नहिं डालोगे
हो अनन्य-मन प्रेम-प्रतिज्ञा-पालन-व्रत नहिं पालोगे

तन मन धन जन प्रान देश-जीवन के साथ न सानोगे
स्वोपयुक्त विज्ञान ज्ञान का सुखद वितान न तानोगे

तब तक क्योंकर देश तुम्हारा निज स्वदेश हो सकता है
स्वत्व उसी का रह सकता है रख उसको जो सकता है

❖❖❖

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

प्रियप्रवास

सप्तदश सर्ग

मन्दाक्रान्ता छन्द

ऊधो लौटे नगर मथुरा में कई मास बीते।
आये थे वे ब्रज-अवनि में दो दिनों के लिये ही।
आया कोई न फिर ब्रज में औ न गोपाल आये।
धीरे-धीरे निशि-दिन लगे बीतने व्यग्रता से ॥1॥

बीते थोड़ा दिवस ब्रज में एक संवाद आया।
कन्याओं से निधन सुन के कंस का कृष्ण द्वारा।
जाना ग्रामों पुर नगर को फूँकता भू-कँपाता।
सारी सेना सहित मथुरा है जरासन्ध आता ॥2॥

ए बातें ज्यों ब्रज-अवनि में हो गई व्यापमाना।
सारे प्राणी अति व्यथित हो, हो गये शोक-मग्न।
क्या होवेगा परम-प्रिय की आपदा क्यों टलेगी।
ऐसी होने प्रति-पल लगीं तर्कनायें उरों में ॥3॥

जो होती थी गगन-तल में उत्थिता धूलि यों ही।
तो आशंका-विवश बनते लोग थे बावले से।
जो टापें हो ध्वनित उठतीं घोटकों की कहीं भी।
तो होता है हृदय शतधा गोप-गोपांगना का ॥4॥

धीरे-धीरे दुख-दिवस ए त्रास के साथ बीते।
लोगों द्वारा यह शुभ समाचार आया गृहों में।
सारी सेना निहत अरि की हो गई श्याम-हाथों।
प्राणों को ले मगध-पति हो भूरि उद्विग्न भागा ॥5॥

बारी-बारी ब्रज-अवनि को कम्पमाना बना के।
बातें धावा-मगध-पति की सत्तरा-बार फैलीं।
आया संवाद ब्रज-महि में बार अट्ठारहीं जो।
टूटी आशा अखिल उससे नन्द-गोपादिकों की ॥6॥

हा ! हाथों से पकड़ अबकी बार ऊबा-कलेजा।
रोते-धोते यह दुखमयी बात जानी सबों ने।
उत्पातों से मगध-नृप के श्याम ने व्यग्र हो के।
त्यागा प्यारा-नगर मथुरा जा बसे द्वारिका में ॥7॥

ज्यों होता है शरद ऋतु के बीतने से हताश।
स्वाती-सेवी अतिशय तृषावान प्रेमी पपीहा।
वैसे ही श्री कुँवर-वर के द्वारिका में पधारे।
छाई सारी ब्रज-अवनि में सर्वदेशी निराशा ॥8॥

प्राणी आशा-कमल-पग को है नहीं त्याग पाता।
सो वीची सी लसित रहती जीवनांभोधि में है।
व्यापी भू के उर-तिमिर सी है जहाँ पै निराशा।
हैं आशा की मलिन किरणें ज्योति देती वहाँ भी ॥9॥

आशा त्यागी न ब्रज-महि ने हो निराशामयी भी।
लाखों आँखें पथ कुँवर का आज भी देखती थीं।
मात्रायें थीं समधिक हुईं शोक दु:खादिकों की।
लोहू आता विकल-दृग में वारि के स्थान में था ॥10॥

कोई प्राणी कब तक भला खिन्न होता रहेगा।
ढालेगा अश्रु कब तक क्यों थाम टूटा-कलेजा।
जी को मारे नखत गिन के ऊब के दग्ध हो के।
कोई होगा विरत कब लौं विश्वव्यापी-सुखों से ॥11॥

न्यारी-आभा निलय-किरणें सूर्य्य की औ शशी की।
ताराओं से खचित नभ की नीलिमा मेघ-माला।
पेड़ों की औ ललित-लतिका-वेलियों की छटायें।
कान्ता-क्रीड़ा सरित सर औ निर्झरों के जलों की ॥12॥

मीठी-तानें मधुर-लहरें गान-वाद्यादिकों की।
प्यारी बोली विहग-कुल की बालकों की कलायें।
सारी शोभा रुचिर-ऋतु की पर्व की उत्सवों की।
वैचित्र्यों से बलित धरती विश्व की सम्पदायें ॥13॥

संतप्तों का, प्रबल-दुख से दग्ध का, दृष्टि आना।
जो आँखों में कुटिल-जग का चित्र सा खींचते हैं।
आख्यानों के सहित सुखदा-सांत्वना सज्जनों की।
संतानों की सहज ममता पेट-धन्धे सहस्रों ॥14॥

हैं प्राणी के हृदय-तल को फेरते मोह लेते।
धीरे-धीरे प्रबल-दुख का वेग भी हैं घटाते।
नाना भावों सहित अपनी व्यापिनी मुग्धता से।
वे हैं प्रायः व्यथित-उर की वेदनायें हटाते ॥15॥

गोपी-गोपों जनक-जननी बालिका-बालकों के।
चित्तोन्मादी प्रबल-दुख का वेग भी काल पा के।
धीरे-धीरे बहुत बदला हो गया न्यून प्रायः।
तो भी व्यापी हृदय-तल में श्यामली मूर्त्ति ही थी ॥16॥

वे गाते तो मधुर-स्वर से श्याम की कीर्त्ति गाते।
प्रायः चर्चा समय चलती बात थी श्याम ही की।
मानी जाती सुतिथि वह थीं पर्व औ उत्सवों की।
थीं लीलायें ललित जिनमें राधिका-कान्त ने की ॥17॥

खो देने में विरह-जनिता वेदना किल्विषों के।
ला देने में व्यथित-उर में शान्ति भावानुकूल।
आशा दग्धा जनक-जननी चित्त के बोधने में।
की थी चेष्टा अधिक परमा-प्रेमिका राधिका ने ॥18॥

चिन्ता-ग्रस्ता विरह-विधुरा भावना में निमग्ना।
जो थीं कौमार-व्रत-निरता बालिकायें अनेकों।
वे होती थीं बहु-उपकृता-नित्य श्री राधिका से।
घंटों आ के पग-कमल के पास वे बैठती थीं ॥19॥

जो छा जाती गगन-तल के अंक में मेघ-माला।
जो केकी हो नटित करता केकिनी साथ क्रीड़ा।
प्रायः उत्कण्ठ बन रटता 'पी कहाँ' जो पपीहा।
तो उन्मत्ता-सदृश बन के बालिकायें अनेकों ॥20॥

ये बातें थीं स-जल घन को खिन्न हो हो सुनाती।
क्यों तू हो के परम-प्रिय सा वेदना है बढ़ाता।
तेरी संज्ञा सलिल-धर है और पर्जन्य भी है।
ठंढा मेरे हृदय-तल को क्यों नहीं तू बनाता॥**21**॥

तू केकी को स्व-छवि दिखला है महा मोद देता।
वैसा ही क्यों मुदित तुझसे है पपीहा न होता।
क्यों है मेरा हृदय दुखता श्यामता देख तेरी।
क्यों ए तेरी त्रिविध मुझको मूर्त्तियाँ दीखती हैं॥**22**॥

ऐसी ठौरों पहुँच बहुधा राधिका कौशलों से।
ये बातें थीं पुलक कहतीं उन्मना-बालिका से।
देखो प्यारी भगिनि भव को प्यार की दृष्टियों से।
जो थोड़ी भी हृदय-तल में शान्ति की कामना है॥**23**॥

ला देता है जलद दृग में श्याम की मंजु-शोभा।
पक्षाभा से मुकुट-सुषमा है कलापी दिखाता।
पी का सच्चा प्रणय उर में आँकता है पपीहा।
ये बातें हैं सुखद इनमें भाव क्या है व्यथा का॥**24**॥

होती राका विमल-विधु से बालिका जो विपन्ना।
तो श्री राधा मधुर-स्वर से यों उसे थीं सुनाती।
तेरा होना विकल सुभगे बुध्दिमत्ता नहीं है।
क्या प्यारे की वदन-छवि तू इन्दु में है न पाती॥**25**॥

मालिनी छन्द

जब कुसुमित होतीं वेलियाँ औ लतायें।
जब ऋतुपति आता आम की मंजरी ले।
जब रसमय होती मेदिनी हो मनोज्ञा।
जब मनसिज लाता मत्तता मानसों में॥**26**॥

जब मलय-प्रसूता-वायु आती सु-सिक्ता।
जब तरु कलिका औ कोंपलों से लुभाता।
जब मधुकर-माला गूँजती कुंज में थी।
जब पुलकित हो हो कूकतीं कोकिलायें॥**27**॥

तब ब्रज बनता था मूर्त्ति उद्विग्नता की।
प्रति-जन-उर में थी वेदना वृध्दि पाती।
गृह, पथ, वन, कुंजों मध्य थीं दृष्टि आती।
बहु-विकल उनींदी, ऊबती, बालिकायें ॥28॥

इन विविध व्यथाओं मध्य डूबे दिनों में।
अति-सरल-स्वभावा सुन्दरी एक बाला।
निशि-दिन फिरती थी प्यार से सिक्त हो के।
गृह, पथ, बहु-बागों, कुंज-पुंजों, वनों में ॥29॥

वह सहृदयता से ले किसी मूर्छिता को।
निज अति उपयोगी अंक में यत्न-द्वारा।
मुख पर उसके थी डालती वारि-छींटे।
वर-व्यजन डुलाती थी कभी तन्मयी हो ॥30॥

कुवलय-दल बीछे पुष्प औ पल्लवों को।
निज-कलित-करों से थी धरा में बिछाती।
उस पर यक तप्ता बालिका को सुला के।
वह निज कर से थी लेप ठंढे लगाती ॥31॥

यदि अति अकुलाती उन्मना-बालिका को।
वह कह मृदु-बातें बोधती कुंज में जा।
वन-वन बिलखाती तो किसी बावली का।
वह ढिग रह छाया-तुल्य संताप खोती॥32॥

यक थल अवनी में लोटती वंचिता का।
तन रज यदि छाती से लगा पोंछती थी।
अपर थल उनींदी मोह-मग्ना किसी को।
वह शिर सहला के गोद में थी सुलाती ॥33॥

सुन कर उसमें की आह रोमांचकारी।
वह प्रति-गृह में थी शीघ्र से शीघ्र जाती।
फिर मृदु-वचनों से मोहनी-उक्तियों से।
वह प्रबल-व्यथा का वेग भी थी घटाती ॥34॥

गिन-गिन नभ-तारे ऊब आँसू बहा के।
यदि निज-निशि होती कश्चिदार्त्ता बिताती।
वह ढिग उसके भी रात्रि में ही सिधाती।
निज अनुपम राधा-नाम की सार्थता से ॥35॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

राधा जाती प्रति-दिवस थीं पास नन्दांगना के।
नाना बातें कथन कर के थीं उन्हें बोध देती।
जो वे होतीं परम-व्यथिता मूर्छिता या विपन्ना।
तो वे आठों पहर उनकी सेवना में बितातीं ॥36॥

घंटों लेके हरि-जननि को गोद में बैठती थीं।
वे थीं नाना जतन करतीं पा उन्हें शोक-मग्ना।
धीरे-धीरे चरण सहला औ मिटा चित्त-पीड़ा।
हाथों से थीं दृग-युगल के वारि को पोंछ देती ॥37॥

हो उद्विग्ना बिलख जब यों पूछती थीं यशोदा।
क्या आवेंगे न अब ब्रज में जीवनाधार मेरे।
तो वे धीरे मधुर-स्वर से हो विनीता बतातीं।
हाँ आवेंगे, व्यथित-ब्रज को श्याम कैसे तजेंगे ॥38॥

आता ऐसा कथन करते वारि राधा-दृगों में।
बूँदों-बूँदों टपक पड़ता गाल पै जो कभी था।
जो आँखों से सदुख उसको देख पातीं यशोदा।
तो धीरे यों कथन करतीं खिन्न हो तू न बेटी ॥39॥

हो के राधा विनत कहतीं मैं नहीं रो रही हूँ।
आता मेरे दृग-युगल में नीर आनन्द का है।
जो होता है पुलक कर के आप की चारु सेवा।
हो जाता है प्रकटित वही वारि द्वारा दृगों में ॥40॥

वे थीं प्रायः ब्रज-नृपति के पास उत्कण्ठ जातीं।
सेवायें थीं पुलक करतीं क्लान्तियाँ थीं मिटाती।
बातों ही में जग-विभव की तुच्छता थीं दिखाती।
जो वे होते विकल पढ़ के शास्त्र नाना सुनातीं ॥41॥

होती मारे मन यदि कहीं गोप की पंक्ति बैठी।
किम्वा होता विकल उनको गोप कोई दिखाता।
तो कार्य्यों में सविधि उनको यत्नत: वे लगातीं।
औ ए बातें कथन करतीं भूरि गंभीरता से॥42॥

जी से जो आप सब करते प्यार प्राणेश को हैं।
तो पा भू में पुरुष-तन को, खिन्न हो के न बैठें।
उद्योगी हो परम रुचि से कीजिये कार्य्य ऐसे।
जो प्यारे हैं परम-प्रिय के विश्व के प्रेमिकों के॥43॥

जो वे होता मलिन लखतीं गोप के बालकों को।
देतीं पुष्पों रचित उनको मुग्धकारी-खिलौने।
दे शिक्षायें विविध उनसे कृष्ण-लीला करातीं।
घंटों बैठी परम-रुचि से देखतीं तद्गता हो॥44॥

पाई जातीं दुखित जितनी अन्य गोपांगनायें।
राधा द्वारा सुखित वह भी थीं यथा रीति होती।
गा के लीला स्व प्रियतम की वेणु, वीणा बजा के।
प्यारी-बातें कथन कर के वे उन्हें बोध देतीं॥45॥

संलग्ना हो विविध कितने सांत्वना-कार्य्य में भी।
वे सेवा थीं सतत करती वृध्द-रोगी जनों की।
दीनों, हीनों, निबल विधवा आदि को मानती थीं।
पूजी जाती ब्रज-अवनि में देवियों सी अत: थीं॥46॥

खो देती थीं कलह-जनिता आधि के दुर्गुणोंको।
धो देती थीं मलिन-मन की व्यापिनी कालिमायें।
बो देती थीं हृदय-तल के बीज भावज्ञता का।
वे थीं चिन्ता-विजित-गृह में शान्ति-धारा बहाती॥47॥

आटा चींटी विहग गण थे वारि औ अन्न पाते।
देखी जाती सदय उनकी दृष्टि कीटादि में भी।
पत्तों को भी न तरु-वर के वे वृथा तोड़ती थीं।
जी से वे थीं निरत रहती भूत-संवर्ध्दना में॥48॥

वे छाया थीं सु-जन शिर की शासिका थीं खलों की।
कंगालों की परम निधि थीं औषधी पीड़ितों की।
दीनों की थीं बहिन, जननी थीं अनाथाश्रितों की।
आराध्या थीं ब्रज-अवनि की प्रेमिका विश्व की थीं ॥49॥

जैसा व्यापी विरह-दुख था गोप गोपांगना का।
वैसी ही थीं सदय-हृदया स्नेह की मूर्त्ति राधा।
जैसी मोहावरित-ब्रज में तामसी-रात आई।
वैसे ही वे लसित उसमें कौमुदी के समा थीं ॥50॥

जो थीं कौमार-व्रत-निरता बालिकायें अनेकों।
वे भी पा के समय ब्रज में शान्ति विस्तारती थीं।
श्री राधा के हृदय-बल से दिव्य-शिक्षा-गुणों से।
वे भी छाया-सदृश उनकी वस्तुतः हो गई थीं ॥51॥

तो भी आई न वह घटिका औ न वे वार आये।
वैसी सच्ची सुखद ब्रज में वायु भी आ न डोली।
वैसे छाये न घन रस की सोत सी जो बहाते।
वैसे उन्माद-कर-स्वर से कोकिला भी न बोली ॥52॥

जीते भूले न ब्रज-महि के नित्य उत्कण्ठ प्राणी।
जी से प्यारे जलद-तन को, केलि-क्रीड़ादिकों को।
पीछे छाया विरह-दुख की वंशजों-बीच व्यापी।
सच्ची यों है ब्रज-अवनि में आज भी अंकिता है ॥53॥

सच्चे स्नेही अवनिजन के देश के श्याम जैसे।
राधा जैसी सदय-हृदया विश्व प्रेमानुरक्ता।
हे विश्वात्मा ! भरत-भुव के अंक में और आवें।
ऐसी व्यापी विरह-घटना किन्तु कोई न होवे ॥54॥

❖❖❖

जयशंकर प्रसाद

कामायनी

चिन्ता सर्ग

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर, बैठ शिला की शीतल छाँह;
एक पुरुष, भीगे नयनों से, देख रहा था प्रलय प्रवाह !

नीचे जल था, ऊपर हिम था, एक तरल था, एक सघन;
एक तत्त्व की ही प्रधानता - कहो उसे जड़ या चेतन।

दूर-दूर तक विस्तृत था हिम, स्तब्ध उसी के हृदय समान;
नीरवता-सी शिला-चरण से, टकराता फिरता पवमान।

तरुण तपस्वी-सा वह बैठा, साधन करता सुर-श्मशान;
नीचे प्रलयसिन्धु लहरों का, होता था सकरुण अवसान।

उसी तपस्वी-से लम्बे थे देवदारु दो चार खड़े;
हुए हिम-धवल, जैसे पत्थर बनकर ठिठुरे रहे अड़े।

अवयव की दृढ मांस-पेशियाँ, ऊर्जस्वित था वीर्य्य अपार;
स्फीत शिरायें, स्वस्थ रक्त का, होता था जिनमें संचार।

चिन्ता-कातर वदन हो रहा पौरुष जिसमें ओत-प्रोत;
उधर उपेक्षामय यौवन का बहता भीतर मधुमय स्रोत।

बँधी महावट से नौका थी, सूखे में अब पड़ी रही;
उतर चला था वह जल-प्लावन, और निकलने लगी मही।

निकल रही थी मर्म वेदना, करुणा विकल कहानी सी;
वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही, हँसती-सी पहचानी-सी।

"ओ चिन्ता की पहली रेखा, अरी विश्व-वन की व्याली;
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण, प्रथम कंप-सी मतवाली !

हे अभाव की चपल बालिके, री ललाट की खल-खेला !
हरी-भरी-सी दौड़-धूप, ओ जल-माया की चल-रेखा !

इस ग्रहकक्षा की हलचल – री तरल गरल की लघु-लहरी;
जरा अमर-जीवन की, और न कुछ सुनने वाली, बहरी !

अरी व्याधि की सूत्र-धारिणी – अरी आधि, मधुमय अभिशाप !
हृदय-गगन में धूमकेतु-सी, पुण्य-सृष्टि में सुन्दर पाप।

मनन करावेगी तू कितना ? उस निश्चिन्त जाति का जीव;
अमर मरेगा क्या ? तू कितनी गहरी डाल रही है नींव।

आह ! घिरेगी हृदय-लहलहे-खेतों पर करका-घन-सी;
छिपी रहेगी अन्तरतम में सब के तू निगूढ़ धन-सी।

बुद्धि, मनीषा, मति, आशा, चिन्ता तेरे हैं कितने नाम;
अरी पाप है तू, जा, चल जा यहाँ नहीं कुछ तेरा काम।

विस्मृति आ, अवसाद घेर ले, नीरवते ! बस चुप कर दे;
चेतनता चल जा, जड़ता से आज शून्य मेरा भर दे।"

"चिन्ता करता हूँ मैं जितनी उस अतीत की, उस सुख की;
उतनी ही अनन्त में बनती जातीं रेखायें दुःख की।

आह सर्ग के अग्रदूत ! तुम असफल हुए, विलीन हुए;
भक्षक या रक्षक, जो समझो, केवल अपने मीन हुए।

अरी आँधियो ! ओ बिजली की दिवा-रात्रि तेरा नर्त्तन,
उसी वासना की उपासना, वह तेरा प्रत्यावर्त्तन।

मणि-दीपों के अन्धकारमय अरे निराशापूर्ण भविष्य !
देव-दम्भ के महामेध में सब कुछ ही बन गया हविष्य।

अरे अमरता के चमकीले पुतलो ! तेरे ये जयनाद;
काँप रहे हैं आज प्रतिध्वनि बनकर मानो दीन विषाद।

प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित हम सब थे भूले मद में;
भोले थे, हाँ तिरते केवल सब विलासिता के नद में।

वे सब डूबे, डूबा उनका विभव, बन गया पारावार;
उमड़ रहा था देव-सुखों पर दुःख-जलधि का नाद अपार।"

"वह उन्मुक्त विलास हुआ क्या ? स्वप्न रहा या छलना थी !
देवसृष्टि की सुख-विभावरी ताराओं की कलना थी।

चलते थे सुरभित अंचल से जीवन के मधुमय निश्वास;
कोलाहल में मुखरित होता देव जाति का सुख-विश्वास।

सुख, केवल सुख का वह संग्रह, केन्द्रीभूत हुआ इतना;
छायापथ में नवतुषार का सघन मिलन होता जितना।

सब कुछ थे स्वायत्त, विश्व के – बल, वैभव, आनन्द अपार;
उद्वेलित लहरों-सा होता, उस समृद्धि का सुख-संचार।

कीर्ति, दीप्ति, शोभा थी नचती अरुण-किरण-सी चारों ओर,
सप्तसिन्धु के तरल कणों में, द्रुम-दल में, आनन्द-विभोर।

शक्ति रही हाँ शक्ति – प्रकृति थी पद-तल में विनम्र विश्रान्त;
कँपती धरणी, उन चरणों से होकर प्रतिदिन ही आक्रान्त।

स्वयं देव थे हम सब, तो फिर क्यों न विशृंखल होती सृष्टि ?
अरे अचानक हुई इसी से कड़ी आपदाओं की वृष्टि।

गया, सभी कुछ गया, मधुरतम सुर-बालाओं का शृंगार;
उषा ज्योत्स्ना-सा यौवन-स्मित मधुप-सदृश निश्चिन्त विहार।

भरी वासना-सरिता का वह कैसा था मदमत्त प्रवाह,
प्रलय-जलधि में संगम जिसका देख हृदय था उठा कराह।"

"चिर-किशोर-वय, नित्य विलासी – सुरभित जिससे रहा दिगन्त;
आज तिरोहित हुआ कहाँ वह मधु से पूर्ण अनन्त वसन्त ?

कुसुमित कुंजों में वे पुलकितप्रेमालिंगन हुए विलीन;
मौन हुई हैं मूर्च्छित तानें और न सुन पड़ती अब बीन।

अब न कपोलों पर छाया-सी पड़ती मुख की सुरभित भाप;
भुज-मूलों में, शिथिल वसन की व्यस्त न होती है अब माप।

कंकण क्वणित, रणित नूपुर थे, हिलते थे छाती पर हार,
मुखरित था कलरव, गीतों में स्वर लय का होता अभिसार।

सौरभ से दिगन्त पूरित था, अन्तरिक्ष आलोक-अधीर;
सब में एक अचेतन गति थी, जिससे पिछड़ा रहे समीर !

वह अनंग-पीड़ा-अनुभव-सा अंग-भंगियों का नर्त्तन,
मधुकर के मरंद-उत्सव-सा मदिर भाव से आवर्त्तन ।

सुरा सुरभिमय वदन अरुण वे नयन भरे आलस अनुराग;
कल कपोल था जहाँ बिछलता कल्पवृक्ष का पीत पराग।

विकल वासना के प्रतिनिधि वे सब मुरझाये चले गये;
आह ! जले अपनी ज्वाला से, फिर वे जल में गले, गये।"

"अरी उपेक्षा-भरी अमरते ! री अतृप्ति ! निर्बाध विलास !
द्विधा-रहित अपलक नयनों की भूख-भरी दर्शन की प्यास !

बिछुड़े तेरे सब आलिंगन, पुलक-स्पर्श का पता नहीं;
मधुमय चुम्बन कातरतायें, आज न मुख को सता रहीं।

रत्न-सौंध के वातायन, जिनमें आता मधु-मदिर समीर;
टकराती होगी अब उनमें तिमिंगिलों की भीड़ अधीर।

देव-कामिनी के नयनों से जहाँ नील-नलिनों की सृष्टि;
होती थी, अब वहाँ हो रही प्रलयकारिणी भीषण वृष्टि।

वे अम्लान-कुसुम-सुरभित, मणि-रचित मनोहर मालायें;
बनीं शृंखला, जकड़ीं जिनमें विलासिनी सुर-बालायें।

देव-यजन के पशुयज्ञों की वह पूर्णाहुति की ज्वाला;
जलनिधि में बन जलती कैसी आज लहरियों की माला।"

"उनको देख कौन रोया यों अन्तरिक्ष में बैठ अधीर !
व्यस्त बरसने लगा अश्रुमय यह प्रालेय हलाहल नीर !

हाहाकार हुआ क्रन्दनमय कठिन कुलिश होते थे चूर;
हुए दिगन्त बधिर, भीषण रव बार-बार होता था क्रूर।

दिग्दाहों से धूम उठे, या जलधर उठे क्षितिज-तट के !
सघन गगन में भीम प्रकम्पन, झंझा के चलते झटके।

अन्धकार में मलिन मित्र की धुँधली आभा लीन हुई;
वरुण व्यस्त थे, घनी कालिमा स्तर-स्तर जमती पीन हुई।

पंचभूत का भैरव मिश्रण, शंपाओं के शकल-निपात,
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ खोज रहीं ज्यों खोया प्रात।

बार-बार उस भीषण रव से कँपती धरती देख विशेष,
मानो नील व्योम उतरा हो आलिंगन के हेतु अशेष।

उधर गरजती सिन्धु लहरियाँ कुटिल काल के जालों सी;
चली आ रहीं फेन उगलती फन फैलाये व्यालों-सी।

धँसती धरा, धधकती ज्वाला, ज्वालामुखियों के निःश्वास;
और संकुचित क्रमशः उसके अवयव का होता था ह्रास।

सबल तरंगाघातों से उस क्रुद्ध सिन्धु के, विचलित-सी;
व्यस्त महाकच्छप-सी धरणी, ऊभ-चूभ थी विकलित-सी।

बढ़ने लगा विलास-वेग सा वह अति भैरव जल-संघात;
तरल-तिमिर से प्रलय-पवन का होता आलिंगन, प्रतिघात।

वेला क्षण-क्षण निकट आ रही क्षितिज क्षीण, फिर लीन हुआ;
उदधि डुबाकर अखिल धरा को बस मर्य्यादा-हीन हुआ!

करका क्रन्दन करती गिरती और कुचलना था सब का;
पंचभूत का यह ताण्डवमय नृत्य हो रहा था कब का।"

"एक नाव थी, और न उसमें डाँडे लगते, या पतवार;
तरल तरंगों में उठ-गिरकर बहती पगली बारम्बार।

लगते प्रबल थपेड़े, धुँधले तट का था कुछ पता नहीं;
कातरता से भरी निराशा देख नियति पथ बनी वहीं।

लहरें व्योम चूमती उठतीं, चपलायें असंख्य नचतीं।
गरल जलद की खड़ी झड़ी में बूँदें निज संसृति रचतीं।

चपलायें उस जलधि-विश्व में स्वयं चमत्कृत होती थीं;
ज्यों विराट् बाड़व-ज्वालायें खंड-खंड हो रोती थीं।

जलनिधि के तलवासी जलचर विकल निकलते उतराते;
हुआ विलोड़ित गृह, तब प्राणी कौन ! कहाँ ! कब ! सुख पाते ?

घनीभूत हो उठे पवन, फिर श्वासों की गति होती रुद्ध;
और चेतना थी बिलखाती, दृष्टि विफल होती थी क्रुद्ध।

उस विराट् आलोड़न में ग्रह, तारा बुद-बुद से लगते;
प्रखर प्रलय-पावस में जगमग, ज्योतिरिंगणों-से जगते।

प्रहर दिवस कितने बीते, अब इसको कौन बता सकता;
इनके सूचक उपकरणों का, चिह्न न कोई पा सकता।

काला शासन-चक्र मृत्यु का कब तक चला, न स्मरण रहा,
महामत्स्य का एक चपेटा दीन पोत का मरण रहा।

किन्तु, उसी ने ला टकराया इस उत्तरगिरि के शिर से,
देव-सृष्टि का ध्वंस अचानक श्वास लगा लेने फिर से।

आज अमरता का जीवित हूँ मैं वह भीषण जर्जर दम्भ,
आह सर्ग के प्रथम अंक का अधम पात्रमय-सा विष्कम्भ !"

"ओ जीवन की मरु-मरिचिका, कायरता के अलस विषाद !
अरे पुरातन अमृत ! अगतिमय मोहमुग्ध जर्जर अवसाद !

मौन ! नाश ! विध्वंस ! अँधेरा ! शून्य बना जो प्रकट अभाव,
वही सत्य है, अरी अमरते ! तुझको यहाँ कहाँ अब ठाँव।

मृत्यु, अरी चिर-निद्रे ! तेरा अंक हिमानी-सा शीतल,
तू अनन्त में लहर बनाती काल-जलधि की-सी हलचल।

महा-नृत्य का विषम सम, अरी अखिल स्पन्दनों की तू माप,
तेरी ही विभूति बनती है सृष्टि सदा होकर अभिशाप।

अन्धकार के अट्टहास-सी, मुखरित सतत चिरन्तन सत्य,
छिपी सृष्टि के कण-कण में तू, यह सुन्दर रहस्य है नित्य।

जीवन तेरा क्षुद्र अंश है व्यक्त नील घन-माला में,
सौदामिनी-सन्धि-सा सुन्दर क्षण भर रहा उजाला में।"

पवन पी रहा था शब्दों को निर्जनता की उखड़ी साँस,
टकराती थी, दीन प्रतिध्वनि बनी हिम-शिलाओं के पास।

धू-धू करता नाच रहा था अनस्तित्व का ताण्डव नृत्य;
आकर्षण-विहीन विद्युत्कण बने भारवाही थे भृत्य।

मृत्यु सदृश शीतल निराश ही आलिंगन पाती थी दृष्टि;
परम व्योम से भौतिक कण-सी घने कुहासों की थी वृष्टि।

वाष्प बना उड़ता जाता था या वह भीषण जल-संघात,
सौरचक्र में आवर्त्तन था प्रलय निशा का होता प्रात।

*   *   *

श्रद्धा सर्ग

कौन तुम ? संसृति-जलनिधि तीर-तरंगों से फेंकी मणि एक,
कर रहे निर्जन का चुपचाप प्रभा की धारा से अभिषेक ?

मधुर विश्रान्त और एकान्त – जगत का सुलझा हुआ रहस्य,
एक करुणामय सुन्दर मौन और चंचल मन का आलस्य !"

सुना यह मनु ने मधु गुंजार मधुकरी का-सा जब सानन्द,
किये मुख नीचा कमल समान प्रथम कवि का ज्यों सुन्दर छन्द।

एक झटका-सा लगा सहर्ष, निरखने लगे लुटे-से कौन –
गा रहा यह सुन्दर संगीत ? कुतूहल रह न सका फिर मौन।

और देखा वह सुन्दर दृश्य नयन का इन्द्रजाल अभिराम;
कुसुम-वैभव में लता समान चन्द्रिका से लिपटा घनश्याम।

हृदय की अनुकृति बाह्य उदार एक लम्बी काया, उन्मुक्त;
मधु-पवन-क्रीडित ज्यों शिशु साल, सुशोभित हो सौरभ-संयुक्त।

मसृण, गान्धार देश के, नील रोम वाले मेषों के चर्म,
ढँक रहे थे उसका वपु कान्त बन रहा था वह कोमल वर्म।

नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।

आह ! वह मुख ! पश्चिम के व्योम-बीच जब घिरते हों घनश्याम;
अरुण रवि-मण्डल उनको भेद दिखाई देता हो छविधाम।

या कि, नव इन्द्रनील लघु शृंग फोड़ कर धधक रही हो कान्त;
एक लघु ज्वालामुखी अचेत माधवी रजनी में अश्रान्त।

घिर रहे थे घुँघराले बाल अंस अवलम्बित मुख के पास;
नील घनशावक-से सुकुमार सुधा भरने को विधु के पास।

और, उस पर वह मुसक्यान ! रक्त किसलय पर ले विश्राम;
अरुण की एक किरण अम्लान अधिक अलसाई हो अभिराम !

नित्य-यौवन छवि से ही दीप्त विश्व की करुण कामना मूर्ति;
स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति।

उषा की पहिली लेखा कान्त, माधुरी से भीगी भर मोद;
मद भरी जैसे उठे सलज्ज भोर की तारक-द्युति की गोद।

कुसुम कानन-अंचल में मन्द पवन प्रेरित सौरभ साकार,
रचित-परमाणु-पराग-शरीर खड़ा हो, ले मधु का आधार।

और, पड़ती हो उस पर शुभ्र नवल मधु-राका मन की साध;
हँसी का मदविह्वल प्रतिबिम्ब मधुरिमा खेला सदृश अबाध!

कहा मनु ने, "नभ धरणी बीच बना जीवन रहस्य निरुपाय;
एक उल्का-सा जलता भ्रान्त, शून्य में फिरता हूँ असहाय।

शैल निर्झर न बना हतभाग्य, गल नहीं सका जो कि हिम-खंड;
दौड़कर मिला न जलनिधि-अंक आह वैसा ही हूँ पाषण्ड।

पहेली-सा जीवन है व्यस्त, उसे सुलझाने का अभिमा;
बताता है विस्मृति का मार्ग चल रहा हूँ बनकर अनजान।

भूलता ही जाता दिन-रात सजल-अभिलाषा-कलित अतीत;
बढ़ रहा तिमिर-गर्भ में नित्य, दीन जीवन का यह संगीत।

क्या कहूँ, क्या हूँ मैं उद्भ्रान्त ? विवर में नील गगन के आज;
वायु की भटकी एक तरंग, शून्यता का उजड़ा-सा राज।

एक विस्मृति का स्तूप अचेत, ज्योति का धुँधला-सा प्रतिबिम्ब;
और जड़ता की जीवन-राशि, सफलता का संकलित विलम्ब।"

"कौन हो तुम वसन्त के दूत विरस पतझड़ में अति सुकुमार!
घन-तिमिर में चपला की रेख, तपन में शीतल मन्द बयार।

नखत की आशा-किरण समान, हृदय के कोमल कवि की कान्त –
कल्पना की लघु लहरी दिव्य, कर रही मानस-हलचल शान्त!"

लगा कहने आगन्तुक व्यक्ति मिटाता उत्कण्ठा सविशेष;
दे रहा हो कोकिल सानन्द सुमन को ज्यों मधुमय सन्देश –

"भरा था मन में नव उत्साह सीख लूँ ललित कला का ज्ञान;
इधर रह गन्धर्वों के देश, पिता की हूँ प्यारी सन्तान।

घूमने का मेरा अभ्यास बढ़ा था मुक्त व्योम-तल नित्य;
कुतूहल खोज रहा था, व्यस्त हृदय-सत्ता का सुन्दर सत्य।

दृष्टि जब जाती हिमगिरी ओर प्रश्न करता मन अधिक अधीर,
धरा की यह सिकुड़न भयभीत आह, कैसी है ? क्या है पीर ?

मधुरिमा में अपनी ही मौन, एक सोया संदेश महान,
सजग हो करता था संकेत, चेतना मचल उठी अनजान।

बढ़ा मन और चले ये पैर, शैल-मालाओं का शृंगार;
आँख की भूख मिटी यह देख आह कितना सुन्दर सम्भार !

एक दिन सहसा सिन्धु अपार लगा टकराने नग तल क्षुब्ध;
अकेला यह जीवन निरुपाय आज तक घूम रहा विश्रब्ध।

यहाँ देखा कुछ बलि का अन्न, भूत-हित-रत किसका यह दान !
इधर कोई है अभी सजीव, हुआ ऐसा मन में अनुमान।

तपस्वी ! क्यों हो इतने क्लान्त ? वेदना का यह कैसा वेग ?
आह ! तुम कितने अधिक हताश – बताओ यह कैसा उद्वेग !

हृदय में क्या है नहीं अधीर – लालसा जीवन की निश्शेष ?
कर रहा वंचित कहीं न त्याग तुम्हें, मन में धर सुन्दर वेश !

दुःख के डर से तुम अज्ञात जटिलताओं का कर अनुमान,
काम से झिझक रहे हो आज भविष्यत् से बनकर अनजान !

कर रही लीलामय आनन्द, महाचिति सजग हुई-सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम, इसी में सब होते अनुरक्त।

काम-मंगल से मण्डित श्रेय, सर्ग इच्छा का है परिणाम;
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल बनाते हो असफल भवधाम।"

"दुःख की पिछली रजनी बीच विकसता सुख का नवल प्रभात;
एक परदा यह झीना नील छिपाये है जिसमें सुख गात।

जिसे तुम समझे हो अभिशाप, जगत की ज्वालाओं का मूल;
ईश का वह रहस्य वरदान, कभी मत इसको जाओ भूल।

विषमता की पीड़ा से व्यक्त हो रहा स्पन्दित विश्व महान;
यही दु:ख-सुख-विकास का सत्य यही भूमा का मधुमय दान।

नित्य समरसता का अधिकार, उमड़ता कारण-जलधि समान;
व्यथा से नीली लहरों बीच बिखरते सुख-मणिगण द्युतिमान!"

लगे कहने मनु सहित विषाद – "मधुर मारुत-से ये उच्छवास,
अधिक उत्साह तरंग अबाध उठाते मानस में सविलास।

किन्तु जीवन कितना निरुपाय! लिया है देख, नहीं सन्देह,
निराशा है जिसका कारण, सफलता का वह कल्पित गेह।"

कहा आगन्तुक ने सस्नेह – "अरे, तुम इतने हुए अधीर!
हार बैठे जीवन का दाँव, जीतते मर कर जिसको वीर।

तप नहीं केवल जीवन-सत्य करुण यह क्षणिक दीन अवसाद;
तरल आकांक्षा से है भरा, सो रहा आशा का आह्लाद।

प्रकृति के यौवन का शृंगार करेंगे कभी न बासी फूल;
मिलेंगे वे जाकर अतिशीघ्र आह उत्सुक है उनकी धूल।

पुरातनता का यह निर्मोक सहन करती न प्रकृति पल एक;
नित्य नूतनता का आनन्द किये है परिवर्तन में टेक।

युगों की चट्टानों पर सृष्टि डाल पद-चिह्न चली गंभीर;
देव, गंधर्व,असुर की पंक्ति अनुसरण करती उसे अधीर।"

"एक तुम, यह विस्तृत भू-खंड प्रकृति वैभव से भरा अमंद;
कर्म का भोग, भोग का कर्म, यही जड़ का चेतन आनन्द।

अकेले तुम कैसे असहाय यजन कर सकते? तुच्छ विचार।
तपस्वी! आकर्षण से हीन कर सके नहीं आत्म-विस्तार।

दब रहे हो अपने ही बोझ खोजते भी न कहीं अवलम्ब;
तुम्हारा सहचर बन कर क्या न उऋण होऊँ मैं बिना विलम्ब ?

समर्पण लो – सेवा का सार, सजल संसृति का यह पतवार,
आज से यह जीवन उत्सर्ग इसी पद-तल में विगत-विकार।

दया, माया, ममता लो आज, मधुरिमा लो, अगाध विश्वास;
हमारा हृदय-रत्न-निधि स्वच्छ तुम्हारे लिए खुला है पास।

बनो संसृति के मूल रहस्य, तुम्हीं से फैलेगी वह बेल;
विश्व-भर सौरभ से भर जाय सुमन के खेलो सुन्दर खेल।"

"और यह क्या तुम सुनते नहीं विधाता का मंगल वरदान –
'शक्तिशाली हो, विजयी बनो' विश्व में गूँज रहा जय-गान।

डरो मत, अरे अमृत संतान! अग्रसर है मंगलमय वृद्धि;
पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र खिंची आवेगी सकल समृद्धि।

देव-असफलताओं का ध्वंस प्रचुर उपकरण जुटाकर आज;
पड़ा है बन मानव-सम्पत्ति पूर्ण हो मन का चेतन-राज।

चेतना का सुन्दर इतिहास – अखिल मानव भावों का सत्य;
विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य अक्षरों से अंकित हो नित्य।

विधाता की कल्याणी सृष्टि, सफल हो इस भूतल पर पूर्ण;
पटें सागर, बिखरे ग्रह-पुंज और ज्वालामुखियाँ हों चूर्ण।

उन्हें चिंगारी सदृश सदर्प कुचलती रहे खड़ी सानन्द;
आज से मानवता की कीर्ति अनिल, भू-जल में रहे न बंद।

जलधि के फूटें कितने उत्स – द्वीप-कच्छप डूबें-उतराय;
किन्तु वह खड़ी रहे दृढ़-मूर्ति अभ्युदय का कर रही उपाय।

विश्व की दुर्बलता बल बने, पराजय का बढ़ता व्यापार –
हँसाता रहे उसे सविलास शक्ति का क्रीड़ामय संचार।

शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय;
समन्वय उसका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय!"

* * *

लज्जा सर्ग

"कोमल किसलय के अंचल में नन्हीं कलिका ज्यों छिपती-सी;
गोधूली के धूमिल पट में दीपक के स्वर में दिपती-सी।

मंजुल स्वप्नों की विस्मृति में मन का उन्माद निखरता ज्यों;
सुरभित लहरों की छाया में बुल्ले का विभव बिखरता ज्यों।

वैसी ही माया में लिपटी अधरों पर उँगली धरे हुए;
माधव के सरस कुतूहल का आँखों में पानी भरे हुए।

नीरव निशीथ में लतिका-सी तुम कौन आ रही हो बढ़ती ?
कोमल बाँहें फैलाये-सी आलिंगन का जादू पढ़ती !

किन इन्द्रजाल के फूलों से लेकर सुहाग-कण राग-भरे;
सिर नीचा कर हो गूँथ रही माला जिससे मधु धार ढरे ?

पुलकित कदम्ब की माला-सी पहना देती हो अन्तर में;
झुक जाती है मन की डाली अपनी फलभरता के डर में।

वरदान सदृश हो डाल रही नीली किरणों से बुना हुआ;
यह अंचल कितना हल्का-सा कितना सौरभ से सना हुआ।

सब अंग मोम से बनते हैं कोमलता में बल खाती हूँ;
मैं सिमट रही-सी अपने में परिहास-गीत सुन पाती हूँ।

स्मित बन जाती है तरल हँसी नयनों में भरकर बाँकपना;
प्रत्यक्ष देखती हूँ सब जो वह बनता जाता है सपना।

मेरे सपनों में कलरव का संसार आँख जब खोल रहा;
अनुराग समीरों पर तिरता था इतराता-सा डोल रहा।

अभिलाषा अपने यौवन में उठती उस सुख के स्वागत को;
जीवन भर के बल-वैभव से सत्कृत करती दूरागत को।

किरणों का रज्जु समेट लिया जिसका अवलम्बन ले चढ़ती;
रस के निर्झर में धँस कर मैं आनन्द-शिखर के प्रति बढ़ती।

छूने में हिचक, देखने में पलकें आँखों पर झुकती हैं;
कलरव परिहास भरी गूँजें अधरों तक सहसा रुकती हैं।

संकेत कर रही रोमाली चुपचाप बरजती खड़ी रही;
भाषा बन भौंहों की काली रेखा-सी भ्रम में पड़ी रही।

तुम कौन! हृदय की परवशता ? सारी स्वतंत्रता छीन रही;
स्वच्छन्द सुमन जो खिले रहे जीवन-वन से हो बीन रही!"

संध्या की लाली में हँसती, उसका ही आश्रय लेती-सी;
छाया प्रतिमा गुनगुना उठी श्रद्धा का उत्तर देती-सी।

"इतना न चमत्कृत हो बाले! अपने मन का उपकार करो;
मैं एक पकड़ हूँ जो कहती ठहरो कुछ सोच-विचार करो।

अम्बर-चुम्बी हिमशृंगों से कलरव कोलाहल साथ लिये;
विद्युत की प्राणमयी धारा बहती जिसमें उन्माद लिये।

मंगल कुंकुम की श्री जिसमें निखरी हो ऊषा की लाली;
भोला सुहाग इठलाता हो ऐसी हो जिसमें हरियाली।

हो नयनों का कल्याण बना आनन्द सुमन-सा विकसा हो,
वासन्ती के वन-वैभव में जिसका पंचम स्वर पिक-सा हो;

जो गूँज उठे फिर नस-नस में मूर्च्छना समान मचलता-सा;
आँखों के साँचे में आकर रमणीय रूप बन ढलता-सा;

नयनों की नीलम की घाटी जिस रस घन से छा जाती हो,
वह कौंध कि जिससे अन्तर की शीतलता ठण्डक पाती हो।

हिल्लोल भरा हो ऋतुपति का गोधूली की-सी ममता हो;
जागरण प्रात-सा हँसता हो जिसमें मध्याह्न निखरता हो।

हो चकित निकल आई सहसा जो अपने प्राची के घर से,
उस नवल चन्द्रिका-से बिछड़े जो मानस की लहरों पर-से।

फूलों की कोमल पंखड़ियाँ बिखरें जिसके अभिनन्दन में,
मकरन्द मिलाती हों अपना स्वागत के कुंकुम चन्दन में।

कोमल किसलय मर्मर रव से जिसका जय-घोष सुनाते हों,
जिसमें दुःख-सुख मिलकर मन के उत्सव आनन्द मनाते हों।

उज्ज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं,
जिसमें अनन्त अभिलाषा के सपने सब जगते रहते हैं।

मैं उसी चपल की धात्री हूँ, गौरव महिमा हूँ सिखलाती,
ठोकर जो लगने वाली है उसको धीरे-से समझाती।

मैं देव-सृष्टि की रति-रानी निज पंचबाण से वंचित हो,
बन आवर्जना-मूर्त्ति दीना अपनी अतृप्ति-सी संचित हो।

अवशिष्ट रह गई अनुभव में अपनी अतीत असफलता-सी;
लीला विलास की खेद-भरी अवसादमयी श्रम-दलिता-सी।

मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ मैं शालीनता सिखाती हूँ;
मतवाली सुन्दरता पग में नूपुर-सी लिपट मनाती हूँ।

लाली बन सरल कपोलों में आँखों में अंजन सी लगती;
कुंचित अलकों-सी घुँघराली मन की मरोर बनकर जगती।

चंचल किशोर सुन्दरता की मैं करती रहती रखवाली;
मैं वह हल्की-सी मसलन हूँ जो बनती कानों की लाली।"

"हाँ, ठीक, परन्तु बताओगी मेरे जीवन का पथ क्या है ?
इस निविड़ निशा में संसृति की आलोकमयी रेखा क्या है ?

यह आज समझ तो पाई हूँ मैं दुर्बलता में नारी हूँ;
अवयव की सुन्दर कोमलता लेकर मैं सबसे हारी हूँ।

पर मन भी क्यों इतना ढीला अपने ही होता जाता है !
घनश्याम खण्ड-सी आँखों में क्यों सहसा जल भर आता है ?

सर्वस्व-समर्पण करने की विश्वास महातरु छाया में,
चुपचाप पड़ी रहने की क्यों ममता जगती है माया में ?

छायापथ में तारक-द्युति-सी झिलमिल करने की मधु-लीला,
अभिनय करती क्यों इस मन में कोमल निरीहता श्रम-शीला ?

निस्सम्बल होकर तिरती हूँ इस मानस की गहराई में,
चाहती नहीं जागरण कभी सपने की इस सुघराई में।

नारी-जीवन का चित्र यही क्या ? विकल रंग भर देती हो,
अस्फुट रेखा की सीमा में आकार कला को देती हो।

रुकती हूँ और ठहरती हूँ पर सोच-विचार न कर सकती,
पगली-सी कोई अन्तर में बैठी जैसे अनुदिन बकती।

मैं जभी तोलने का करती उपचार स्वयं तुल जाती हूँ;
भुज-लता फँसा कर नर-तरु से झूले-सी झोंके खाती हूँ।

इस अर्पण में कुछ और नहीं केवल उत्सर्ग छलकता है;
मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ इतना ही सरल झलकता है।"

"क्या कहती हो ठहरो नारी ! संकल्प अश्रु-जल से अपने,
तुम दान कर चुकी पहले ही जीवन के सोने-से सपने।

नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग पगतल में;
पीयूष-स्रोत-सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल में।

देवों की विजय, दानवों की हारों का होता युद्ध रहा;
संघर्ष सदा उर-अन्तर में जीवित रह नित्य-विरुद्ध रहा।

आँसू से भींगे अंचल पर मन का सब कुछ रखना होगा,
तुमको अपनी स्मित-रेखा से यह सन्धि-पत्र लिखना होगा।"

❖❖❖

रामधारी सिंह 'दिनकर'

(1)

मंगल-आह्वान

भावों के आवेग प्रबल
मचा रहे उर में हलचल।
कहते, उर के बाँध तोड़
स्वर-स्त्रोतों में बह-बह अनजान,
तृण, तरु, लता, अनिल, जल-थल को
छा लेंगे हम बनकर गान।

पर, हूँ विवश, गान से कैसे
जग को हाय! जगाऊँ मैं,
इस तमिस्त्र युग-बीच ज्योति की
कौन रागिनी गाऊँ मैं?
बाट जोहता हूँ लाचार
आओ, स्वरसम्राट! उदार।

पल भर को मेरे प्राणों में
ओ विराट् गायक! आओ,
इस वंशी पर रसमय स्वर में
युग-युग के गायन गाओ।

वे गायन, जिन को न आज तक
गाकर सिरा सका जल-थल,
जिन की तान-तान पर आकुल
सिहर-सिहर उठता उडु-दल।

आज सरित का कल-कल, छल-छल
निर्झर का अविरल झर-झर,
पावस की बूँदों की रिम-झिम,
पीले पत्तों का मर्मर,

जलधि-साँस, पक्षी के कलरव,
अनिल-सनन, अलि का गुन-गुन
मेरी वंशी के छिद्रों में
भर दो ये मधु-स्वर चुन चुन।

दो आदेश, फूँक दूँ शृंगी,
उठें प्रभाती-राग महान्,
तीनों काल ध्वनित हों स्वर में,
जागें सुप्त भुवन के प्राण।

गत विभूति, भावी की आशा
ले युगधर्म पुकार उठे,
सिंहों की घन-अन्ध गुहा में
जागृति की हुंकार उठे।

जिन का लुटा सुहाग, हृदय में
उन के दारुण हूक उठे,
चीखूँ यों कि याद कर ऋतुपति
की कोयल रो कूक उठे।

प्रियदर्शन इतिहास कण्ठ में
आज ध्वनित हो काव्य बने,
वर्तमान की चित्रपटी पर –
भूतकाल सम्भाव्य बने।

जहाँ-जहाँ घन-तिमिर हृदय में
भर दो वहाँ विभा प्यारी,
दुर्बल प्राणों की नस-नस में
देव! फूँक दो चिनगारी।

ऐसा दो वरदान, कला को
कुछ भी रहे अजेय नहीं,
रजकण से ले पारिजात तक
कोई रूप अगेय नहीं।

प्रथम खिली जो मघुर ज्योति
कविता वन तमसा-कूलों में
जो हँसती आ रही युगों से
नभ-दीपों, वनफूलों में;

सूर-सूर तुलसी-शशि जिस की
विभा यहाँ फैलाते हैं,
जिस के बुझे कणों को पा कवि
अब खद्योत कहाते हैं;

उस की विभा प्रदीप्त करे
मेरे उर का कोना-कोना,
छू दे यदि लेखनी, धूल भी
चमक उठे बनकर सोना।

* * *

(2)

हिमालय

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

साकार, दिव्य, गौरव विराट्,
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल !
मेरी जननी के हिम-किरीट !
मेरे भारत के दिव्य भाल !
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

युग-युग अजेय, निर्बन्ध, मुक्त,
युग-युग शुचि, गर्वोन्नत, महान्,
निस्सीम व्योम में तान रहा
युग से किस महिमा का वितान ?

कैसी अखण्ड यह चिर-समाधि ?
यतिवर ! कैसा यह अमिट ध्यान ?
तू महाशून्य में खोज रहा
किस जटिल समस्या का निदान ?
उलझन का कैसा विषम जाल ?
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

ओ, मौन, तपस्या-लीन यती !
पल भर को तो कर दृगुन्मेष !
रे ज्वालाओं से दग्ध, विकल
है तड़प रहा पद पर स्वदेश।

सुखसिन्धु, पंचनद, ब्रह्मपुत्र
गंगा, यमुना की अमिय-धार
जिस पुण्य भूमि की ओर बही
तेरी विगलित करुणा उदार,

जिस के द्वारों पर खड़ा क्रान्त
सीमापति ! तू ने की पुकार,
'पद-दलित इसे करना पीछे
पहले ले मेरा सिर उतार।'

उस पुण्यभूमि पर आज तपी !
रे, आन पड़ा संकट कराल,
व्याकुल तेरे सुत तड़प रहे,
डँस रहे चतुर्दिक् विविध व्याल।
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

कितनी मणियाँ लुट गयीं ? मिटा
कितना मेरा वैभव अशेष।
तू ध्यान-मग्न ही रहा, इधर
वीरान हुआ प्यारा स्वदेश।

किन द्रौपदियों के बाल खुले ?
किन-किन कलियों का अन्त हुआ ?
कह हृदय खोल चित्तौर ! यहाँ
कितने दिन ज्वाल-वसन्त हुआ ?

पूछे सिकता-कण से हिमपति,
तेरा वह राजस्थान कहाँ ?
वन-वन स्वतन्त्रता-दीप लिये
फिरने वाला बलवान् कहाँ ?

तू पूछ अवध से, राम कहाँ ?
वृन्दा ! बोलो, घनश्याम कहाँ ?
ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक ?
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ ?

पैरों पर ही है पड़ी हुई
मिथिला भिखारिनी सुकुमारी,
तू पूछ कहाँ इस ने खोयीं
अपनी अनन्त निधियाँ सारी ?

री कपिलवस्तु ! कह, बुद्धदेव
के वे मंगल उपदेश कहाँ ?
तिब्बत, इरान, जापान, चीन
तक गये हुए सन्देश कहाँ ?

वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ लिच्छवी-शान कहाँ ?
ओ री उदास गण्डकी ! बता
विद्यापति कवि के गान कहाँ ?

तू तरुण देश से पूछ अरे,
गूँजा यह कैसा ध्वंस-राग ?
अम्बुधि-अन्तस्तल-बीच छिपी
यह सुलग रही है कौन आग ?

प्राची के प्रांगण-बीच देख,
जल रहा स्वर्ण-युग-अग्नि-ज्वाल,
तू सिंहनाद कर जाग तपी !
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

रे, रोक युधिष्ठिर को न यहाँ,
जाने दे उनको स्वर्ग धीर,
पर, फिर हमें गाण्डीव-गदा,
लौटा दे अर्जुन-भीम वीर।

कह दे शंकर से, आज करें
वे प्रलय-नृत्य फिर एक बार।
सारे भारत में गूँज उठे,
'हर-हर-बम' का फिर महोच्चार।

ले अँगड़ाई, उठ हिले धरा
कर निज विराट् स्वर में निनाद,
तू शैलराट् ! हुँकार भरे,
फट जाए कुहा, भागे प्रमाद !

तू मौन त्याग, कर सिंहनाद,
रे तपी ! आज तप का न काल।
नव-युग-शंखध्वनि जगा रही
तू जाग, जाग, मेरे विशाल !

❖❖❖

कुँवर नारायण

(1)

नचिकेता

तँह कुमारँसन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाविवेश सोऽमन्यत॥

असहमति को अवसर दो। सहिष्णुता को आचरण दो
कि बुद्धि सिर ऊँचा रख सके ......
उसे हताश मत करो काइयाँ स्वार्थों से हरा-हराकर।
अविनय को स्थापित मत करो,
उपेक्षा से खिन्न न हो जाय कहीं
मनुष्य की साहसिकता।
अमूल्य थाती है यह सबकी,
इसे स्वर्ग के लालच में छीन लेने का
किसी को अधिकार नहीं। ....
आह, तुम नहीं समझते पिता, नहीं समझना चाह रहे,
कि एक-एक शील पाने के लिए
कितनी महान आत्माओं ने कितना कष्ट सहा है ......
सत्य, जिसे हम सब इतनी आसानी से
अपनी-अपनी तरफ़ मान लेते हैं, सदैव
विद्रोही-सा रहा है।

तुम्हारी दृष्टि में मैं विद्रोही हूँ
क्योंकि मेरे सवाल तुम्हारी मान्यताओं का उल्लंघन करते हैं।
नया जीवन-बोध सन्तुष्ट नहीं होता
ऐसे जवाबों से जिनका सम्बन्ध
आज से नहीं अतीत से है।
तर्क से नहीं रीति से है।
यह सब धर्म नहीं – धर्म सामग्री का प्रदर्शन है।
अन्न, घृत, पशु, पुरोहित, मैं .....
शायद इस निष्ठा में हर सवाल बाधा है
जिसमें मनुष्य नहीं अदृश्य का साझा है।
तुम सब चतुर और चमत्कारी।
बहुमत यही है – ऐसा ही सब करते –
कितनी शक्ति है इस स्थिति में
जिससे भिन्न सोचते ही

मैं विधर्मी हो जाता हूँ –
किसी बहुत बड़ी संख्या से घटा दिया जाता हूँ
इस तरह
कि शेष समर्थ बना रहता ग़लत भी,
एक – सही भी, अनर्थ हो जाता है !

सामूहिक अनुष्ठानों के समवेत मंत्र-घोष
शंख-स्वरों पर यंत्रवत् हिलते नर-मुंड आँखें मूँद .....
इनमें व्यक्तिगत अनिष्ठा
एक अनहोनी बात
जिसके अविश्वास से
मंत्र झेंपते हैं, देवता मुकर जाते, वरदान भ्रष्ट होते ।
तुम जिनसे माँगते हो
मुझे उनकी माँगों से डर लगता ।
इस समझौते और लेन-देन में कहीं
व्यक्ति के अधिकार नष्ट होते ......
अँधेरे में – 'जागते रहो' – अभ्यस्त आवाज़ों से
सचेत करते पहरेदार । नैतिक आदेशों के
पालतू मुहावरे सोते-जागते कानों में : साथ ही
एक अलग व्यापार ईमान के चोर-दरवाज़ों से ।

मनुष्य स्वर्ग के लालच में
अक्सर उस विवेक तक की बलि दे देता
जिस पर निर्भर करता
जीवन का वरदान लगना ।

मैं जिन परिस्थितियों में ज़िंदा हूँ
उन्हें समझना चाहता हूँ – वे उतनी ही नहीं
जितनी संसार और स्वर्ग की कल्पना से बनती हैं
क्योंकि व्यक्ति मरता है
और अपनी मृत्यु में वह बिल्कुल अकेला है,
विवश
असान्त्वनीय ।

एक नग्नता है नि:संकोच
खुले आकाश की
शरीर की अपेक्षा।
शरीर हवा में उड़ते वस्त्र आसपास;
मैं किसी आदिम निर्जनता का असभ्य एकांत
जितना ढँका उससे कहीं अधिक अनावृत .....
घातक, अश्लील सचाइयाँ
जिन्हें सब छिपाते
पर जिनसे छिप नहीं पाते।
इन्द्रासन का लोभ,
प्रत्येक जीवन,
मानो किसी असफल षड्यंत्र के बाद
पूरे संसार की निर्मम हत्या है।

एक आत्मीय सम्बोधन – तुम्हारा नाम,
स्मृति-खण्डों के बीच झलकता चितकबरा प्रकाश।
एक हँसी बंद दरवाज़ों को खटखटाती। सुबह
किसी बच्चे की किलकारी से तुम जागे हो, पर
आँखें नहीं खोलते। उसके उत्पात ने तुम्हें विभोर
कर दिया है : पर, नया दिन, आलस्य की करवटों से
टटोलते – तुम नहीं देखते कि यह दूसरा दिन है
और वह बालक जिसने तुम्हें जगाया, अब बालक नहीं।
प्यार अब पर्याप्त नहीं।
न जाने कितनी वृत्तियों में उग आया, वह
तुम्हारा विश्वबोध और अपना।
भिन्न, प्रतिवादी, अपूर्व ......
अब उसे स्वीकारते तुम झिझकते हो,
उसे स्थान देते पराजित,
उसे उत्तर देते लज्जित ......

* * *

(2)

उपसंहार

तुम्हारी मान्यताएँ वह परिधि है
जिससे केवल शून्य बनते हैं,
तुम्हारा व्यक्तित्व वह इकाई है
जिससे केवल संख्याएँ बनती हैं।

मैं समूह से विच्छिन्न हूँ
क्योंकि कुछ भिन्न हूँ।

मैं जानता हूँ कभी न कभी
तुम्हारे स्वत्व की कोई अदम्य जिज्ञासा
या उसकी व्याकुल पुनरावृत्ति– मुझे खोजेगी,
लेकिन तब जब कि यह समूची दुनिया
मेरे हाथों से गिरकर टूट चुकी होगी
और मैं अस्तित्व के किसी विघटित प्रतीक में ही
पाया जा सकूँगा।
हमारी पछताती आत्माएँ अनन्त काल तक भटकेंगी
उस अर्थ के लिए
जो हम आज एक दूसरे को दे सकते हैं।

* * *

(3)

चक्रव्यूह

युद्ध की प्रतिध्वनि जगाकर
जो हज़ारों बार दुहराई गई,
रक्त की विरुदावली कुछ ओर रँगकर
लोरियों के संग जो गाई गई, –
उसी इतिहास की स्मृति,
उसी संसार में लौटे हुए,
ओ योद्धा, तुम कौन हो ?

X X X

मैं नवागत वह अजित अभिमन्यु हूँ
प्रारब्ध जिसका गर्भ ही से हो चुका निश्चित,
अपरिचित ज़िंदगी के व्यूह में फेंका हुआ उन्माद
बाँधी पंक्तियों को तोड़
क्रमशः लक्ष्य तक बढ़ता हुआ जयनाद :

मेरे हाथ में टूटा हुआ पहिया,
पिघलती आग-सी सन्ध्या,
बदन पर एक फूटा कवच,
सारी देह क्षत-विक्षत,
धरती – खून में ज्यों सनी लथपथ लाश,
सिर पर गिद्ध-सा मँडला रहा आकाश .....

मैं बलिदान इस संघर्ष में
कटु व्यंग्य हूँ उस तर्क पर
जो ज़िंदगी के नाम पर हारा गया,
आहूत हर युद्धाग्नि में
वह जीव हूँ निष्पाप
जिसको पूर कर मारा गया,
वह शीश जिसका रक्त सदियों तक बहा,
वह दर्द जिसको बेगुनाहों ने सहा ।

यह महासंग्राम,
युग-युग से चला आता महाभारत,
हज़ारों युद्ध, उपदेशों, उपाख्यानों, कथाओं में
छिपा वह पृष्ठ मेरा है
जहाँ सदियों पुराना व्यूह, जो दुर्भेद्य था, टूटा,
जहाँ अभिमन्यु कोई भयों के आतंक से छूटा:
जहाँ उसने विजय के चंद घातक पलों में जाना
कि छल के लिए उद्यत व्यूह-रक्षक वीर-कायर हैं,
– जिन्होंने पक्ष अपना सत्य से ज़्यादा बड़ा माना –
जहाँ तक पहुँच उसने मृत्यु के निष्पक्ष, समयातीत घेरे में
घिरे अस्तित्व का हर पक्ष पहिचाना।

❖❖❖